संसदीय आचरण के विचलन से जुड़े प्रश्न

अरुण चतुर्वेदी

भारतीय संसद लंबे समय से संकट के दौर से गुजर रही है। वैसे ये संकट सभी तरह के हैं। संसद की संरचना और उसकी वैचारिक क्षमताओं में आए बदलावों ने भारत में शासन की क्षमताओं को बहुत गहरे प्रभावित किया है। वैसे यह मानने में कोई कठिनाई नहीं है कि देश में हुए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक बदलावों का प्रतिबिंब भारत की संसद है। यही कारण है कि जहां पहले भारत की संसद में वकील, किसान और राजनीति से आए अधिकांशतः लोग संसद के सदस्य होते थे वहीं पिछले वर्षों में उद्योग की पृष्ठभूमि से आए लोगों की उपस्थिति बढ़ी है, सांसद में अपराध से जुड़े लोग भी बढ़े हैं और यही नहीं वे लोग अधिक हैं जिनकी पृष्ठभूमि राजनीतिक न होकर अन्य पृष्टभूमि रही है जिसने और किसी तरह की कमी के अभाव को जन्म दिया हो या नहीं, संसदीय कार्यों के प्रति प्रतिबद्धता को अवश्य ही कम किया है। एक अंतर भारत में आरंभ के वर्षों की संसद में और वर्तमान संसद

में साफ तौर पर नजर आता है वह संसदीय पुस्तकालय में अध्ययन रत सांसदों की संख्या में कमी है। यह उल्लेखनीय है कि भारत की संसद का पुस्तकालय पुस्तकों, प्रतिवेदनों और दस्तावेजों का बहुमूल्य खजाना है जिसका उपयोग सांसद अपने नीति वक्तव्यों और बहसों में करते हैं और अपने संसदीय दायित्वों को अधिक जिम्मेदारी से पूरा करने में जुटे रहते हैं। संसदीय कार्यों की चर्चा में अब हीरेन मुखर्जी, नाथपाई, मधु लिमये, डॉ. राम मनोहर लोहिया, काशीराम की तरह इस महत्वपूर्ण उपयोगी संसदीय संसाधन के प्रयोग कर्ताओं की संख्या में कमी आई है।

(2)

भारत में संसद सदस्यों में ऐसे सदस्यों की वृद्धि हुई है जो संपन्न अर्थ व्यवस्था में प्रतीक हैं। राज्यसभा और लोकसभा में लगभग पचास प्रतिशत सदस्य करोड़पति हैं, यही नहीं पिछले वर्षों में इस वर्ग से जुड़े लोगों की संपत्ति का विस्तार बहुत तेजी के साथ हुआ है। ऐसी स्थिति में कुछ परिणाम तो बहुत ही स्वाभाविक हैं। समृद्ध सांसदों की बहस में विषय पुरानी नेहरु-लोहिया की बहस की तरह तो नहीं हो सकती जिसमें देश की प्रति व्यक्ति आय पर कुछ ही पैसों का अंतर दोनों के बीच लंबी राजनैतिक बहस को जन्म दे गया था। अब भारत में किसान की स्थिति पर चौधरी चरण सिंह की तरह आर्थिक विकल्पों की बहस का भी अभाव नजर आता है। न अब सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों के द्वारा किए जा रहे हैं विभिन्न प्रयासों का प्रभावी, आलोचनात्मक आकलन है। पहले की तरह संसद में अब नीति को लेकर प्रतिरोध है जिसमें महंगाई पर, भाषा के प्रश्न पर और प्रश्नों के उचित उत्तर पर संसद में बहस होती थी, प्रतिरोध था, बहिष्कार था, वह भी उस स्थिति में बहस जब संसद में विपक्ष की संख्या बल नगण्य के बराबर थी।

(3)

पिछले दशक में संसद का स्वरूप दलीय संरचना की दृष्टि से बदला है। लगातार गठबंधन की सरकार हमारे संसदीय प्रजातंत्र की पहचान बन गई है। पहले कुछ वर्षों में एन. डी. ए. की सरकार रही जिसका नेतृत्व अटल बिहारी वाजपेयी ने किया और उसके पश्चात् 2004 के पश्चात् डॉ. मनमोहन सिंह के नेतृत्व में यू. पी. ए. की सरकार है। संसदीय इतिहास में संसद में एक मत से पराजय का दृश्य भी भारतीय लोकसभा में देखने को मिला। वैसे यह सब हमारे लिए चौंकाने वाला नहीं हैं क्योंकि जिस समाज में विभेद के इतने अधिक आधार हों वहां समाज का यह प्रतिबिंब संसद में तो नजर आएगा हीं समाज में आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक और जीवन स्तर में व्यापक अंतराल तो स्वाभाविक रूप से संसद के स्वरूप को प्रभावित करेंगे ही। ऐसी स्थिति में दो दलीय प्रणाली में विकसित नहीं होने का अफसोस या उसकी पैरबी एक रुमानी विचार ही लगता है। इतनी विभिन्नताओं के होते हुए सरकारों का निर्माण एक और तथ्य को भी स्पष्ट करता है कि पिछले दशक में जिन वैचारिक प्रतिबद्धता का अंतराल कम हुआ है या वैचारिक प्रतिबद्धताओं के प्रति आग्रह की कमी ने वैचारिक दृष्टि से अलग, सामाजिक संरचना की दृष्टि से भिन्न राजनैतिक दलों की निकटता को देखा जा सकता है, चाहें यह निकटता बी. जे. पी. या जनता दल यू. ही हो या फिर कांग्रेस और वाम दलों की। दोनों ही स्थितियों में लगातार तनावों के बीच सरकार का संचालन हुआ है और उसमें सबसे अधिक प्रभावित हुआ है नीतिगत निर्णय लेने की क्षमता और प्रशासनिक निर्णय। इस दृष्टि से 2008 का भारत अमेरिकी अणु सुरक्षा समझौता और कांग्रेस-वाम संबंधों का विश्लेषण महत्वपूर्ण है जो अलग-अलग वैचारिक रुझानों के फलस्वरूप यू. पी. ए. में कांग्रेस और वाम के बीच मतभेदों को तो स्पष्ट करते ही हैं, किंतु चुनावों में न जाने की स्थिति के प्रति आग्रह ने यू. पी. ए. को राहत भी प्रदान की। वैसे अमेरिका के साथ सुरक्षा से जुड़े मुद्दों पर इस वर्ष भी संसद में शाब्दिक नाराजगी तो नजर आती है किंतु अमेरिकी संबंधों पर नीति टकराहट से अधिक एक नीति सहमति की अंतरधारा

लगातार बनी हुई है। इसमें यू. पी. ए. और बी. जे. पी. की परस्पर मूल और स्पष्ट सहमति के आभास भी होते हैं। इसे स्पष्ट कैसे किया जाय, इसका एक स्पष्टीकरण तो यह हो सकता है कि पिछले दशक में हिंदुस्तान की राजनीति में मध्यम वर्ग के उभार ने आधुनिक तकनीक, बाजार और वैश्विक हितों की जिस आवश्यकताओं को जन्म दिया है उसी का परिणाम है कि अमेरिकी हितों की प्राथमिकता पर अधिकांश समूह सममति के लिए प्रतिबद्ध हैं इसमें कांग्रेस के अपने रुझानों में बदलाव देखा जा सकता है। बी. जे. पी. की स्थिति पहले से ही अमेरिकी निकटता की रही है और वामदल के संसदीय बल में कमी ने उनके अपने दबावों को कम किया है।

क्षेत्रीय दल या स्थानीय प्रभावों वाले दलों की वैचारिक प्रतिबद्धता पर चर्चा होनी चाहिए क्योंकि वे सरकार संचालन में महत्वपूर्ण घटक हैं। यहां यह विचार गलत नहीं है कि ये दल व्यक्ति प्रभा मंडल प्रधान है चाहे यह व्यक्तित्व मायावती, मुलायम सिंह यादव, लालू प्रसाद, जय ललिता, ममता या फिर करुणानिधि का ही क्यों न हो। इनमें सत्ता की आकांक्षा इन्हें केंद्रीय सत्ता के प्रमुख दल के साथ जोड़े रखती है और अपने दलीय, क्षेत्रीय हित और आकांक्षाएं लगातार दबाव बनाए रखने की स्थिति में ला देते हैं। सारी राष्ट्रीय घोषणाओं के पश्चात भी स्थानीय हित इनके सर्वोपरि मानक है और वे सरकार के मुख्यों निर्णयों को प्रभावित करते हैं। भारत, श्रीलंका समीकरण को पिछले दशक में तमिल राजनीति की आवश्यकताओं ने प्रभावित किया है। यही नहीं सुरक्षा के अन्य प्रश्न भी क्षेत्रीय आवश्यकताओं से निर्धारित हो रहे हैं और इस स्थिति में सरकार के निर्णय लेने की क्षमता तो अपने आप ही सीमित हो रही है।

(4)

संसद के स्वरूप को समझने के लिए पिछले दशक में दो प्रमुख प्रश्नों पर संसदीय बहस के स्वरूप को समझना आवश्यक है। यह बहस बदले हुए आर्थिक परिवेश और उसके लिए हित प्रतिस्पर्धा के विभिन्न स्वरूपों का उपयोगी विश्लेषण है। आर्थिक विकास की अनिवार्यताओं ने पर्यावरणीय बहस को मुख्यधारा में लाकर खड़ा कर दिया है। आर्थिक विकास की आवश्यकताओं में ऊर्जा और खनिज संसाधनों का दोहन मुख्य आधार है और पिछले दशकों में भारतीय उद्योग ही नहीं वरन अंतर्राष्ट्रीय व्यापार हित भी भारत की नीतियों को प्रभावित करने लगे हैं जिसका असर हमारे पिछड़े प्रांतों में पर्यावरण, ऊर्जा और उससे जुड़े हितों को लेकर स्थानीय समूहों, पर्यावरण आवश्यकताओं और आर्थिक हितों को लेकर लगातार तनाव की स्थिति बनी हुई है। प्राकृतिक संसाधनों के दोहन पर पिछड़े राज्य उड़ीसा, छत्तीसगढ़ और झारखंड में आदिवासी विस्थापन, पर्यावरण नियमों के उल्लंघन और शोषण के कई विवाद सामने आए हैं और लगता यही है कि अंतर्राष्ट्रीय संपर्क समूह व्यापारिक हित आदि के लगातार हस्तक्षेप से संसद में इन प्रश्नों पर चर्चाएं और हस्तक्षेप बढ़े हैं और उचित हस्तक्षेप के बीच प्राकृतिक संसाधनों के अत्यधिक दोहन के प्रश्न भी सामने आए हैं।

संसदीय बहसों में दूसरा प्रमुख प्रश्न 'विकास' से जुड़ा है। विकास की प्राथमिकताओं को वैश्वीकरण की प्रक्रियाओं ने बदला है और राज्य के हस्तक्षेप की आवश्यकता और उसमें इन प्रक्रियाओं से अलग होने की बहस के बीच ही वैश्वीकरण के मानवीय चेहरे की बहस नजर आती है। विकास के माध्यम से जो हस्तक्षेप हुआ है और उसने जो अंतराल उत्पन्न किए हैं उनका प्रतिबिंब संसदीय बहसों में नजर आने लगा है। नक्सलवाद से जुड़ी सारी संसदीय बहस राजकीय कठोर सैनिक हस्तक्षेपवादी आवश्यकता और आर्थिक विकास की अधिक सार्थक पहल के बीच में ही न केवल विभाजित है वरन राजकीय नीति और उसकी सार्थकता के कई पक्षों को उजागर करती है। राज्य के हस्तक्षेप के अभाव में लोक कल्याणकारी प्रयासों में लगातार कमी आ रही है और उसके प्रभाव विकास प्रक्रियाओं पर स्पष्ट रूप से नजर आते हैं। पुरानी बहस के स्थानीय स्वरूप की चर्चा तो अब लगभग

समाप्त ही हो गई है।

(5)

संसदीय प्रक्रियाओं और सांसदों के आचरण पर टिप्पणी के बिना संसद के कार्यकलापों को समझा नहीं जा सकता है। संसद की बैठकों की संख्या में ही कमी आ गई है। इसका यह अर्थ लिया जाय कि विधायी कार्यों में कमी आ गई है तो यह गलत होगा क्योंकि विषयों की जटिलता के फलस्वरूप विधायी कार्य न केवल बढ़ा है बल्कि वह जटिल भी हो गया है किंतु संसदों की बैठकों की घटनाएं सरकार की सदन प्रति रुचि का ही परिचायक है। इसी के साथ जुड़ा दूसरा प्रश्न है जिन दिनों बैठकें हो रही हैं उन दिनों भी अधिकांश समय तो प्रदर्शन, बहिष्कार और विभिन्न दलों के शोर-शराबे में ही निकल जाता है। विधायी कार्य तो हो रहा है किंतु नीतियों के विभिन्न पहलुओं पर बहस में गिरावट आ गई है। केवल संसदीय स्वीकृति श्रेष्ठ विधायी कार्य का प्रमाण नहीं है।

संसद के सदस्यों के आचरण पर यों पहले भी चर्चाएं तो हुई हैं किंतु प्रश्न पूछने के लिए, दल बदलने के लिए, भारतीय नागरिकों को विदेश भेजने के लिए पैसे लेते सांसदों के चित्र संसदीय गरिमा को बढ़ाते तो नहीं हैं। संसद और संसदीय आचरण के विचलन एक गरीब देश में महंगी राज्य प्रणाली की उपयोगिता पर प्रश्न चिह्न तो लगाते ही हैं।